Gyanvividha, Vol.-3; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2026 : PP-34-37

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान विषयों की अंतर्राष्ट्रीय सहकर्मी समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध-पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
Impact Factor-8.002 (SJIF)
Vol.-3; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2026
Page No.- 34-37
©2026 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

डॉ. सिमरन भारती

वरीय सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
मारवाड़ी महाविद्यालय, भागलपुर,
तिo मांo भाo विo विo भागलपुर.

Corresponding Author :

डॉ. सिमरन भारती

वरीय सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
मारवाड़ी महाविद्यालय, भागलपुर,
तिo मांo भाo विo विo भागलपुर.

हिंदी सिनेमा और समाज का अंतर्संबंध

संचार एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें भावों, विचारों, तथ्यों, अनुभवों और दृष्टिकोण को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सहभागिता हेतु प्रेषित किया जाता है। समाज की शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक धरोहर को सुरक्षित रखने और अभिव्यक्ति के मूलभूत अधिकार का संरक्षण करने में संचार माध्यमों की उपयोगिता निर्विवाद है। वास्तव में मीडिया जीवन मूल्य है, जीवन दृष्टि है, लोक शिक्षण है, लोक जागृति का साधन है। मीडिया के विभिन्न साधनों को सूचना और प्रौद्योगिकी के विकास में अभूतपूर्व क्रांति का वाहक माना जाता है। संचार क्रांति और वैश्वीकरण के दौर में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के अंतर्गत हिंदी की महत्ता दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है।

सिनेमा जनसंचार माध्यम का कलात्मक माध्यम स्वीकारा गया है। सिनेमा लेखन में कथा, विचार, कथासार, पटकथा, पात्र, संवाद आदि तत्वों पर विचार करना होता है। भारत में रविंद्रनाथ टैगोर, शरतचंद, कमलेश्वर, फणीश्वरनाथ रेणु, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, आर.के.नारायण आदि कथाकारों की रचनाओं का फिल्मों में रुपांतरण किया गया है। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने की सुधीर जो परंपरा चली आ रही है जिसमें सेवासदन, गबन, सारा आकाश, आंधी, बदनाम बस्ती, हम आपके हैं कौन, मजदूर, उसने कहा था, गाइड, सरस्वतीचंद्र, अर्थ, काबुलीवाला, रुदाली,साहब बीवी और गुलाम, नौकर की कमीज, रचनाएं उल्लेखनीय हैं। सिनेमा के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए हिंदी सिनेमा और हिंदी भाषा एक-दूसरे के पूरक बनकर उभरे हैं। "यथार्थ खुद कोई सीधी और सरल रेखा की तरह नहीं है। समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंधों और तनावों से इसी यथार्थ का निर्माण होता है और समय के साथ-साथ इन संबंधों और संघर्षों का स्वरूप बदलता है, उसी के अनुरुप यथार्थ भी बदलता रहता है। इस निरंतर बदलने वाले यथार्थ को प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्गीय

बोध और वैयक्तिक ग्रहण क्षमता के अनुसार समझता और हस्तक्षेप करता है। सिनेमा इसी रूप में यथार्थ का एक अंग भी है और उसमें एक हस्तक्षेप भी।"[1] सिनेमा कई कलाओं की समुचित विधा है। नृत्य, गीत, संगीत,अभिनय, चित्रकला सभी कलाएं इसमें समाहित है। इसलिए सिनेमा आम जनता से आसानी से संवाद करने में सफल हुआ। सिनेमा आज के दौर का एक महत्वपूर्ण कला माध्यम है और इस कला माध्यम का अपने समाज से गहरे स्तरों पर जुड़ाव है। 20वी शताब्दी के कुछ विशिष्ट अविष्कारों में सिनेमा भी एक है, जिसने भारतीय सामाजिक ताने-बाने पर गहरे प्रभाव डाला। कहा जाता है कि भारत में रेलगाड़ी के आने से कई लोग नाराज हुए थे। उनका मानना था की रेलगाड़ी में हर जाति के लोगों को एक साथ सफर करना होगा, जो तथाकथित उच्च जाति के लोगों को कतई मंजूर नहीं था। माना जाता है कि कुछ ऐसा ही सिनेमा के आगमन पर भी हुआ होगा। रेल की तरह सिनेमा हॉल का विकास भी अनचाहे ही भारत में लोकतांत्रिक की ओर बढ़ा एक कदम था, जो दलितों और अस्पृश्यों को टिकट खरीदवा कर उच्च जातियों के साथ बैठकर उसे भगवान के दर्शन का लाभ देता था, जिसके दर्शन मंदिर में असंभव थे और जिसकी शुरुआत दादा साहब फाल्के ने हरिश्चंद्र, तारामती (1913), मोहिनी भस्मासुर (1913), लंका दहन (1917), कृष्ण जन्म (1918), कालिया मर्दन (1919) जैसी धार्मिक फिल्मों के साथ कर दी थी। भारतीय सिनेमा और समाज के समानांतर व परस्पर प्रभावों के बारे में प्रकाश डालना ठीक वैसा ही है जैसे गागर में सागर भरना। समाज और समय फिल्मों में प्रतिबिंबित होता है या फिल्मों से समाज प्रभावित होता है। दोनों ही बातें अपनी-अपनी सीमाओं में सही है। कहानिया कितनी भी कल्पनिक हो, कहीं तो वे इसी समाज से जुड़ी होती है। यही फिल्मों में भी अभिव्यक्त होता है। लेकिन हां बहुत बार ऐसा भी हुआ की फिल्मों का असर हमारे युवाओं और बच्चों पर हुआ है। सकारात्मक और नकारात्मक भी। किंतु ऐसा ही असर साहित्य से भी होता है। क्रांतिकारी साहित्य ने स्वतंत्रता संग्राम में अनेक युवाओं को प्रेरित किया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले ही हिंदुस्तानियों के बीच सांप्रदायिकता के बीज बो दिए गए थे। हिंदी सिनेमा जबरदस्त तरीके से इसका विरोध करता रहा। वी.शांताराम द्वारा 1942-43 के आस-पास 'पड़ोसी' फिल्म बनाई गई थी, इसमें हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया गया, जो वक्त की जरूरत थी। पुराने लोग बताते हैं कि समाज के बारे में जानकारी लेनी हो, तो उससे जुड़ी फिल्मों को देखा जा सकता है। "किसी को भी अपना शुरुआती इतिहास याद नहीं रहता। क्या यह महज संयोग नहीं है कि शुरुआती दौड़ की बहुत कम फिल्में हमें याद है। बताया जाता है कि मूक दौर में 1288 फिल्में बनी थी, लेकिन उनमें से मात्र 13 फिल्में ही राष्ट्रीय अभिलेखगार में मिलती है। बाकी को हम भूल गए या भुला दिया गया। प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि हम स्वत: अपने बीज और शिशु दौर को भूल जाते हैं। वैसे उन दिनों में भी जो फिल्में आई उनके नाम और परिचय तो हमें मिलते ही हैं और उनके दम पर भी हिंदी फिल्मों का इतिहास बनता है।"[2] प्रगति में भूमिका है। अत: जो भी लोग भी फिल्म उद्योग से जुड़े हैं, उन्हें खुद को सामाजिक नेतृत्व का हिस्सा मानते हुए लोगों के कल्याण में सहभागी समझना चाहिए। मनोरंजन तथा सामाजिक प्रासंगिकता के बीच संतुलन कायम रखना इस उद्योग का महत्वपूर्ण दायित्व हैं तथा इस दिशा में किया गया प्रयास समाज में इसकी भूमिका तय करेगा। प्रख्यात फिल्मकार ऋत्विक घटक के शब्दों में एक ही समय में सिनेमा लाखों को उकसाता और उत्तेजित करता है। यह तो प्रमाणित है कि सिनेमा समाज पर अपना प्रभाव छोड़ता है। गैरजरूरी सामाजिक मान्यताओं, रुढ़ियों, अंधविश्वास को खत्म करने में हिंदी सिनेमा ने अपनी अहम् भूमिका अदा की है, साथ ही बदलते हालात में उत्पन्न होती समस्याओं से निपटने के लिए लोगों को तैयार भी किया है। यहां तक कि आजादी की लड़ाई में भी सिनेमा की भूमिका सीमित रुप में ही सही, पर रही है।

ऊपरी तौर पर देखेंगे तो पाएंगे कि जो विचार पहले-पहल रोचक संवादों के जरिए समाज में स्थान बनाते हैं, वह लंबे समय के उपरांत अचेतन रूप से वैचारिकी में शामिल हो जाते हैं। हल्के तौर पर मनोरंजक ढंग से लिखे गए संवाद धीरे-धीरे पहले दर्शकों की जुबान से होते हुए बड़े तौर पर समाज के अंतस में पैठ बना लेते हैं। उदाहरण के तौर

पर सन् 1985 में अमिताभ बच्चन और अमृता सिंह अभिजीत अभिनीत मशहूर फिल्म 'मर्द' का एक संवाद 'मर्द को दर्द नहीं होता' उस समय से लेकर आज तक काफी प्रचलित रहा है। इस संवाद के प्रभाव के संबंध में बात की जाए तो यह संवाद पुरुष प्रधान समाज में उनके भीतर गर्व की भावना का संचार करता है और यह दर्शाता है कि पुरुष शारीरिक कष्ट के बावजूद भी मजबूत ही रहते हैं परंतु इस संवाद का लॉन्ग टर्म इंपैक्ट यह पड़ा कि पुरुषों ने शारीरिक के साथ-साथ मानसिक पीड़ाओं को छुपा कर स्वयं को मजबूत दर्शाने का लगातार प्रयास किया और आज भी काफी हद तक करते आ रहे हैं। अभिनय के नाम पर स्त्रियों का जिस प्रकार वास्तुकरण हो रहा है, उसे और सिनेमा जगत से जुड़े निर्देशकों, अभिनेताओं, सिनेमा से संबंधित लोगों को अपने नैतिक दायित्वों के प्रति जागरुक होना चाहिए तथा उन्हें यह आभास होना चाहिए कि वे समाज के लिए अपनी भूमिका को किस प्रकार उपयोगी बना सकते हैं। "हॉलीवुड फिल्मी सितारों के अनुकरण हमारे सिनेमा में निरंतर होते चले आ रहे हैं। यदि वहां चुंबन और रति-मुद्राएं आम है तो हमारे यहां भी धड़ल्ले से आ चुकी हैं। अब तो स्थिति यह आ गई है कि सिनेमा अभिनेत्रियों में जबरदस्त प्रतिस्पर्धा है। कौन कितना ज्यादा उघड़ एक्सपोज कर सकती है। प्रत्येक शुक्रवार को उद्घाटित होने वाली फिल्मों में कोई न कोई बाला है, जो नंगे होने के पिछले रिकार्ड को मात देती हुई अपना अलग कदम उठाती है।"[3] हाल ही में संदीप रेड्डी वांगा निर्देशित फिल्म 'एनिमल' ने 900 करोड़ रुपए से अधिक की कमाई की, जबकि इस फिल्म में विवादस्पद संवादों की भरमार आपको देखने मिल जाती है। स्त्री का वस्तुकरण, विवाहेत्तर संबंध, कानून और संविधान का मखौल उड़ाना, नग्नता का व्यर्थ चित्रण, अराजकता और हिंसा से भरपूर दृश्य होने के बावजूद यह फिल्म चली और बड़े स्तर पर समाज द्वारा देखी और स्वीकार भी की गई। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज, अराजकता, हिंसा, कानून और न्याय-व्यवस्था को धराशाई होते देख विचलित नहीं हुआ अर्थात या बेहद गंभीर मुद्दा है कि यह समाज किस दिशा की ओर मुड़ रहा है। "फिल्मों की लोकप्रियता फिल्म की अंतर्वस्तु और कलात्मक अंतर्वस्तु पर नहीं बल्कि ऐसे बाहरी तत्वों पर ज्यादा निर्भर रहती है, जिसका फिल्म की गुणवत्ता से प्रत्यक्ष कोई संबंध नहीं होता। मसलन अभिनेता मर्द छवि, अभिनेत्री के यौन-सौंदर्य, हिंसा के उत्तेजक दृश्य, नृत्य और संगीत का उन्मादपूर्ण इस्तेमाल आदि लोकप्रिय सिनेमा के अनिवार्य तत्व बन गए हैं ताकि इनके द्वारा मनोरंजन की एक खास तरह की संकल्पना को स्थायित्व प्रदान किया जा सके।"[4] जहां एक ओर दबंग, हाउसफुल, टाइगर इत्यादि प्रकार की मसाला फिल्मों का निर्माण चल रहा है, वहीं दूसरी ओर थप्पड़, पिंक, 12वीं फेल, सुपर 30, पैडमैन, डियर ज़िंदगी, निल बटे सन्नाटा, गुठली, क्वीन आदि फिल्मों को भी काफी सराहना मिल रही है, जिस कारण से समाज बहुत से गंभीर परंतु वर्जित विषयों के प्रति अब काफी हद तक संवेदनशील और सहिष्णु बनने का प्रयास कर रहा है। अवसाद, हिंसा, स्त्री-समस्या, जातिवाद आदि विषयों को लेकर हमारा समाज पिछले 10-15 वर्षों में काफी हद तक जागरुक हुआ है और इन्हीं समस्याओं की गंभीरता पर अब विवेकवान और संवेदनशील भी हुआ है जिसकी हमारे समाज में अत्यंत आवश्यकता थी।

सिनेमा और समाज के अंतर्संबंध पर बात करते हुए हम समझ पाए हैं कि वह समाज पर गहरा प्रभाव छोड़ता है, जिस कारण कभी-कभार परंतु अनजाने ही आपराधिक मनोवृत्ति के लोगों को नई योजनाएं भी प्रदान कर बैठता है। वर्ष 2018 ईस्वी में चंद्रवीर गाजियाबाद केस में अपराधी ने 2015 में आई अजय देवगन अभिनीत फिल्म 'दृश्यम' को देखकर भीषण हत्याकांड को अंजाम दिया था। आश्चर्य की बात यह है कि 4 वर्ष बाद 2022 में इस हत्याकांड का पर्दाफाश हुआ था। समाज दरअसल बेहद जटिल संरचना है और उससे भी अधिक जटिल है समाज को बनाए रखने वाले मनुष्य की मनोवृतियों को समझना। इसकारण इस बात पर जोर देने का खास गौर करना चाहिए कि उससे समाज कितना और किस प्रकार प्रभावित और प्रवर्तित होता है, क्योंकि जिन दो वस्तुओं का अंतर्संबंध जब इतना गहरा होता है तो परस्पर सकारात्मक या नकारात्मक विचारों का उत्पन्न होना और उसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाज और आवासी की मानसिकता पर परत-दर-परत पड़ता जाता है। शशांक दुबे लिखते हैं कि- "बच्चे हर

दौर में सिनेमा को देखते, गुनते और गुनगुनाते चले आ रहे हैं, लेकिन सिनेमा के प्रति अतिशयोक्तिपूर्ण चाहत में कई बार यह बात भूल जाते हैं कि सिनेमा में जो कुछ भी दर्शाया जा रहा है, वह सारा का सारा असली नहीं है, यह एक नाटक है। बच्चे सिनेमा को तो देखे, लेकिन उसका अंधानुकरण न करें।"[5] सिनेमा में समाज का एक बड़ा हिस्सा दिखता है, तो लाजमी है कि वह ग्रहण भी करता होगा। इसलिए सिनेमा ऐसा हो कि उसके संवाद से लोगों के मन के भीतर गर्व की भावना का संचार हो तथा नैतिक मूल्यों का निर्वहन हो। आज का सिनेमा जीवंत के कटु सत्य को उसी तरह प्रस्तुत करता है जिस तरह वह दिखता है। आदर्श और नैतिकता के नाम पर उसे छुपाया नहीं जाता है।

संदर्भ सूची :

1. जवरीमल्ल, पारख, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, पृष्ठ सं.-21
2. उपाध्याय, ज्ञानेश, बहुवचन-39, अक्टूबर-दिसंबर 2013, पृष्ठ सं-10
3. पारख, जवरीमल्ल, भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा, पृष्ठ सं.-61-62
4. वहीं, पृष्ठ सं.-67
5. शशांक दुबे, बच्चों का सिनेमा और सिनेमा के बच्चे, आजकल नवंबर 2014, पृष्ठ सं.-47

•